

\* श्रीश्रीगुरुगोराम्बौ जयतः \*

स वे पुसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजः ।



\* अहैतुक्यप्रतिहता यथात्मामुप्रतीदति ॥ \*

भर्त्योक्त्कृष्ट भर्त है वह जो आत्मा को आनन्द प्रदायक । तब धर्मों का श्रेष्ठ रीति से पालन करते जीव निरन्तर ।  
भक्ति अधोक्षज की अहैतुकी विघ्नशूल्य अति मंगलदायक ॥ किन्तु हरि-कथा-प्रीति न हो, श्रम व्यर्थ सभी, केवल नंघनकर ॥

वर्ष ६ } गौरान्द ४७७, मास—वामन ई, वार-श्रीरोदशायी { संख्या १  
} शनिवार, ३१ ज्येष्ठ, समवत् २०२०, १५ जून १९६३ }

## श्रीश्रीगौराम्बस्मरणमङ्गल स्तोत्रम्

[ श्रीश्रीलटककुर भक्तिविनोद कृत ]

( ४ )

भक्त्यासार्पनिरचित्तदावैतसुर्या महान्तः प्राप्ता यस्याश्चतिशयं कीर्तनाद्युर्दारैः ।

निरपालन्दोदयसमयती यो ब्रह्मशब्देष्टः वदे गौरं नयनं सुखदं त्रिग्रां ब्रह्मज्ञं नमः ॥१६॥

यः कोलहृष्टग्नो रमणीयसूति पुंखे हृष्णं महतीं सहस्रा चकार ।

तं द्यासं पूजनविश्वो चलदेवभावात् भावोक्यावलयर्हं परमं स्मरामि ॥२०॥

अद्वैतचन्द्रविभूता सगरोनं भक्त्या निरप्त्वं कृष्णमनुना परिपूजितो यः ।

श्रीवास्तमन्दिरनिधि परिपूर्णतत्वं तं श्रीपरादिमहता शरणं स्मरामि ॥२१॥

श्रीवास्तपाल्यं यवनं विशोद्ध्य चक्रे सुभवतं स्वगुणं प्रवदयं ।

प्रेमा सुमतं विवर्याद्विरक्तं यस्तं प्रभुं गौरविषुं स्मरामि ॥२२॥

श्रीरामहृष्टग्नो भिवजो मुरारैः श्रुत्या स्तवं रघुपतेमुदमाप यो वं ।

चक्रे कुसंगरहितं हृष्णा मुकुन्दं तं शुद्धमवितरसदातिवरं स्मरामि ॥२३॥

आग्नेयच्च मगवानवृतदासौ नमामि गोकुलपते नंयरेषु दातुम् ।  
 सर्वं त्रिजीवनिक्षयेषु परावरेषु यस्तं स्मरामि पुरुषं कर्णणावतारम् ॥२४॥

योऽद्वैतसच्चिद्विचलन् सह आग्रजेन संन्यासधर्मरहितं ध्यजिनं सुरापम् ।  
 तत्त्वं विशुद्धमवदत ललिताल्पयुर्या तं शुद्धभवितनिलयं शिवदं स्मरामि ॥२५॥

अद्वैतवादशठताभितदेशिकस्य पृष्ठं ध्यताङ्गदहो सहसा हरि यः ।  
 प्रेमनापि भक्षितपथगच्च चकार तं तं मायाहरं सुविमलं सततं स्मरामि ॥२६॥

( क्रमशः )

## पद्मानुवाद—

[ परलोकगत पं० मधुसूदनदास गोस्वामी कृति ]

महापुरुष अद्वैत मुख श्रीहरि कीर्तन रङ्ग ।  
 विविध भक्ति रस आधय पायो प्रभु परसंग ॥  
 आये नित्यानन्द जब तब ते ईश्वर रूप ।  
 प्रकट किये आश्चर्यं इक घड़ भुज रूप अनुप ॥१६॥  
 करी मुरारोगुप्त ये कृष्ण कोड तनु धार ।  
 भक्तग हित किये नभ तकल नाम विस्तार ॥  
 ध्यास पूर्णिमाके दिवस प्रभु बलराम प्रकाश ।  
 माधिका याचन करी मूसल हल जित बास ॥२०॥  
 मंदिर मधि श्रीवासके पूरन तत्त्व प्रकाश ।  
 विष्णुमंब राजे प्रभु कर देश्वर्य विलास ॥  
 निजगण सन अद्वैत प्रभु हृष्ट धार्थक मुख्लाय ।  
 कृष्ण मन्त्र ते पूजिय गोरचन्द्र युग पाय ॥  
 श्रीधर जाहागण दरिद्रके आधय गौरा राय ।  
 खोला देवत में लियो कर भगव्यो अपनाय ॥२१॥  
 शुद्ध कियो श्रीवास को यवनमृत्यु प्रभु एक ।  
 निजगुण रूप दिखाय के दीनो भक्ति विवेक ॥२२॥  
 बैच मुरारी गुप्त ते राम सत्य सुन लीन ।  
 धनुष बाण ले रामतनु सुन्दर धरी नवीन ॥

बैच मुरारी गुप्त को किय कुसंग परिहार ।  
 भक्ति तत्त्व समझाय के मायावाद विसार ॥२३॥  
 नित्यानन्द हरिदास को दई आज्ञा निर धार ।  
 हृष्णनामको नगरमें घर-घर करहु प्रचार ॥  
 अति शृणालु गोराङ्गु प्रभु कीने पतित पुनीत ।  
 तब जीवन हरिनाम है यही दया को शोत ॥२४॥  
 भवन चले अद्वैतके अप्रज को संग लीन ।  
 मार्ग ललितपुर में लखो संन्यासी अति हीन ॥  
 वनिता सेवी धर्म युज मद्यप भ्रष्टाचार ।  
 प्रभु तत्त्व उपदेश है तिहि कीयो उद्धार ॥२५॥  
 कैन लमे अद्वैतप्रभु मायावाद विजान ।  
 गोरचन्द्रके हाथ लो आहुत दण्ड विधान ॥  
 प्रभु तिन मन को भाव लवि लेच धर्मज में लाय ।  
 धर्मज कियो प्रहार बहु देशिक रहे सिहाय ॥  
 “मोहि पुकार गोलोक ते पुरुषी तलमें आन ।  
 भक्ति गोण कर बैठ घर छोनकत अद्वैत जान ॥  
 सरस प्रणाय कोदण्ड धर श्रीअद्वैताचार्य ।  
 मायावाद कुटायके किये भक्ति पथ आर्य ॥२६॥

( क्रमशः )

# श्रीधाम मायापुर कहाँ हैं ?

हिन्दुओंकी सप्त मोक्षदायिका पुरियोंमेंसे मायापुर एक है। पूत सलीला भगवती भागीरथी इस मायातीर्थसे होकर जगतको पवित्र करती हुई चिरदिन विराजमान हैं।

आर्योवर्तके पाँच विभागोंका उल्लेख मिलता है। इन पाँच विभागोंको पंचगौड़ कहते हैं। सारस्वत प्रदेशसे आरम्भ करके कान्यकुब्ज, प्रतिष्ठानपुर, मिथला होकर सागर-संगम तक गङ्गानदी विष्णु-चरणामृत द्वारा तटवासियोंकी पापराशिको धोकर दूर करती है।

‘अनशा मीचते इति’—माथा। यह माया नारा अर्थात् ज्ञान के ज्ञानशम्भवमें मायातीर्थके जासले चरित्या है। हरिद्वारमें माया है; गौरद्वारमें माया है। हरि हरिद्वार-मायापुरमें हैं और गौरहरि गौरद्वार-मायापुरमें हैं।

लगभग साढ़े चार सौ वर्ष पूर्व श्रीगौरसुन्दर अपने घाट पर छांतोंके बीच बैठकर श्रीगङ्गाका माहात्म्य वर्णन कर रहे हैं। केशव-भट्ट बहुत दूर देशसे मायापुरमें यह जाननेके लिये उपस्थित हुए हैं कि गङ्गाजीने किनके चरणामृतमें अपने विग्रहको स्थापन कर रखा है। वे गङ्गास्तोत्रकी रचना कर रहे हैं और उनका संशोधन कर रहे हैं—साक्षात् श्रीगौरहरि।

केशवभट्टके शिष्य गांगल्यभट्टने हरिभक्तिरङ्गिनी-प्रवाहकल्पमें काश्मीर देशीय केशवको गौरभक्तिका

वर्णन करते-करते श्रीराधागोविन्दकी कथा जनायी है। उसीसे एक युगल-उपासक सम्प्रदाय प्रवर्त्तित हुआ है।

तन्त्रशास्त्रमें मायापुरके सम्बन्धमें प्रचुर वर्णन मिलता है। स्मार्तकुलचूड़ामणि स्वधामलङ्घ परिष्ठित-वर श्रीब्रजनाथ विद्यारथन महाशयने तन्त्रशास्त्रके अतिशय गुप्त रहस्यका उद्घाटन किया है। उनके उस रहस्योद्घाटनसे विश्वकी जनताने यह जान लिया है कि मायापुर कहाँ है ?

प्रतिष्ठानपुरकी युक्तवेणी पूर्वगौड़के सप्तप्राममें मुक्त-नेणीके रूपमें प्रकाशित हुई है। हरिद्वारका मायातीर्थ गौरहरिद्वारमें पूर्वगौड़में लागरकी ओर प्रवाहित गङ्गाधारके तटपर स्थित नवद्वीप-गौड़पुरमें श्रीधाम मायापुरके रूपमें प्रकटित है—इस रहस्यको लोगोंने आजसे बहुत दिन पहले ही जान लिया है।

श्रीधाम मायापुर कहाँ है—यह बतलानेके लिये आगमोंका कथन यह है—गङ्गाके पूर्वीतट पर जहाँ श्रीगौरसुन्दर शचीदेवीके नन्दनके रूपमें उदित हुए हैं, वही स्थान मायापुर है। “मायापुर महेशानि भविष्यामि शचीसुतः”—इस आगमके मन्त्रसे यह सर्वत्र प्रकट हो गया कि जिसे प्राचीन नवद्वीप कहते हैं—वही श्रीधाम मायापुर है। अर्थात् प्राचीन नवद्वीप और श्रीमायापुर धाम अभिन्न हैं।

श्रीनवद्वीपमें शचीनन्दन श्रीगौरहरि अविभूत हुए थे। वे जिस स्थान पर आविभूत हुए थे, उसी

स्थानको तात्कालीन लेखकोंने 'श्रीधामनवद्वीप' कहा है। तन्त्रशास्त्र नित्यधाम श्रीधामको ही भीमायापुर कहते हैं। श्रीमायापुर धाम ही—श्रीनवद्वीपधाम है। विभिन्न भाषाओंमें विभिन्न लेखकोंने एक ही स्थानके भिन्न-भिन्न नाम लिखे हैं। अतएव प्राचीन नवद्वीप और श्रीधाम नवद्वीप दो स्थान नहीं हैं।

प्रथमें काल आखण्ड नहीं है। इन्द्रियज कानके द्वारा कालके खण्डांश सेकेण्ड, मिनिट, घण्टा, दिन-रात, वर्ष, युग, आदि विभिन्न नामोंसे परिचित हैं। एक नक्षत्रके उदय कालसे लेकर पुनः उसी नक्षत्रके उदय काल तकके समयको एक नाह्निक दिन कहते हैं। सूर्यके उदयकालसे लेकर पुनः सूर्य-दयकाल तक दिन-रातको सौरदिन कहते हैं। सौर दिनके ३६५११५३१३१३१-४ अनुपल परिमितकालको सौर वर्ष कहते हैं। इस प्रकारके १०० वर्षोंको मिला कर एक शताब्द होता है।

श्रीगौरसुन्दर जिस समय प्रथमें उदित हुए थे, वह समय आजसे ४४३ सौर वर्ष पूर्वका है। आज कल्याच्छ ४०२६, शकाब्द १८५०, विक्रमाच्छ १६८५, वृषभाच्छ १३३५ तथा लुष्टाच्छ १६२४ है।

इस प्रथमें श्रीजाह्नवीकी गति लदा एक सी नहीं रहती। समय-समय पर उनकी गति बदलती रहती है। सन् १८८७ ई० की गङ्गाधारा और आज सन् १६२४ ई० की गङ्गाधारा एक नहीं है। दोनों समयोंके बने मानचित्रोंको देखनेसे यह भिन्नता स्पष्ट रूपमें परिलक्षित होती है। १८४४ ई० ( वृषभाच्छ ) का मानचित्र, सन् १८८६ ई० का मानचित्र और १८८० ई० का मानचित्र ( श्रीधामनवद्वीपका )—इन तीनों मानचित्रोंको एक साथ देखनेसे पता चलता

है कि इन तीनों समयोंमें गङ्गाकी धारा विभिन्न स्थानोंमें थी। अतएव १८८० ई० का मानचित्र देखनेसे उस समयकी गङ्गाधारा और १८८० ई० की गङ्गाधारा—दोनोंका स्थान एक है—ऐसा कहनेके लिये पुष्ट प्रमाणोंकी आवश्यकता है। पुनः १८८६ वृषभाच्छकी फरवरी महिनेकी धारा और १८११ वृषभाच्छकी धारा भी एक ही स्थान पर थी—इसका भी कोई प्रमाण नहीं है। हाष्ट साहेबका अभिमत प्रहण करनेसे ऐसा जात पड़ता है कि भूकम्पके कारण सोलहवीं शताब्दी ( वृषभाच्छ ) के प्रारम्भमें गङ्गाधाराकी गतिमें बहुत ही परिवर्तन हुआ है।

अत्यन्त छोटेसे नक्से द्वारा गङ्गाकी भारकी उधर-उधर बदलनेकी स्थितिका निरूपण करना भी संभव नहीं है। जिन्होंने ईश्वर कृष्णकी सांख्य यारिकाकी आलोचना की है, वे जानते हैं कि अत्यन्त सूक्ष्म व्यापारोंमें स्थूल-प्रतीति काम नहीं देती। इसलिये अति सूक्ष्म व्यापार स्थूल-प्रतीतिके लिये बाधक है। अतः टोडरमली चित्र या जोयडी व्यूरो आदि अतिसूक्ष्म चित्रसमूह तात्कालिक गङ्गाकी मृद्गमगति निरूपणके विषयमें दग्धरी चित्रक मील तहायता नहीं कर सकते। अनुमानके द्वारा उसे मानने पर उस निर्णयमें जाना पकारके दोष उपस्थित होकर इमें वास्तविक तथ्यसे भ्रष्ट भी कर सकते हैं। विप्रलिप्सा या दूसरोंको ठगनेकी इच्छा हमें सत्यता से दूर हटा देती है। इसलिये श्रीमद्भागवतमें निरस्त कृष्ण ( यथार्थ ) सत्यके प्रति विश्वास स्थापन करनेके लिये ही निर्देश है। १८८६ ई० के विचारको १८८६ ई० के सिरपर लाद देना बुद्धिमानकी बात नहीं है।

पंद्रहवीं शताब्दीका नवद्वीप और गङ्गाधारा, सोलहवीं शताब्दीके नवद्वीप और गङ्गाधाराकी स्थिति; तथा सत्रहवीं शताब्दीके नवद्वीप और गङ्गाधाराकी गति एक ही है—ऐसा कहना विचार एवं युक्तिसंगत नहीं है। जब कि विभिन्न कालके मानचित्र श्रीधाम नवद्वीप एवं वहाँकी गङ्गाधाराकी विभिन्न स्थितियोंकी सूचना दे रहे हैं, फिर इस विषयमें अधिक कुछ कहना चर्चित चर्चणके प्रयास की भाँति ही व्यर्थ है।

अठरहवीं शताब्दीकी गङ्गाधारा और श्रीनवद्वीपकी स्थितिका पता लगानेके लिये सोलहवीं शताब्दीके प्रथम दसक कालीन स्थितिकी गवेषणासे क्या क्या ज्ञान है—इसे हम नहीं समझते। प्राचीन तत्त्वों की छान-बीजके लिये प्रत्न विज्ञान ( Archaeology ), प्राचीन शिल्प और भास्कर्य, आलेख्य, मूर्त्ति विज्ञान-शास्त्र ( Iconography ), प्राचीन लिपि ( Palaeography ) शिला-लिपि ( Epigraphy ) कालबोध विज्ञान ( Chronology ) प्राचीन ऐतिहास, प्राचीन भौगोलिक-संस्थान-विवरण, और नुमिकलिक-विज्ञान ( numismaticus ) आदि हमारी सहायता कर सकते हैं। अतएव श्रीधाम मायापुरकी स्थिति निर्णयके विषयमें इनकी कोई लौकिक सहायता हमें प्राप्त हो सकती है या नहीं—यह विचारणीय है।

बङ्गालमें नदियोंकी प्रचुरता है। अतः इस प्रदेशमें पत्थरकी कमीके कारण शिला-लिपि, मूर्त्ति विज्ञान, और प्राचीन लिपि प्राप्त होनेकी तथा उनसे कुछ सहायता मिलनेकी सम्भावना अत्यधिक अल्प है।

अतः इस दिशामें समय नष्ट करनेकी आवश्यकता नहीं। दूसरी बात, प्रासादविहीन दरिद्र बङ्गकी वर्णकुटिरोंमें प्राचीन चित्र आदि संरक्षित रहनेकी सम्भावना भी नहीं के बराबर ही है, ऐसी दशामें इस ओर से भी किसी प्रकारकी सहायताकी आशा नहीं।

श्रीधाम मायापुरसे ( आजकल बामनपुकुरके नामसे परिचित ) कुछ प्राचीन प्रस्तर खंड—जिन पर शिल्पकला एवं कारुकार्य हैं—एशियाटिक सोसाइटी द्वारा उसके रक्षणागारमें कुछ वर्ष पहले संग्रहीत हुए हैं। प्रत्नतत्त्वकी आलोचना करते हुए कुछ सामयिक पत्र और कुछ दिन पहलेकी छपी भ्रमपूर्ण पुस्तकें पायी जाती हैं। इस विषयमें कुछ किम्बदन्तियाँ भी कुछ सहायता नहीं कर सकती हैं—ऐसी बात नहीं। दैवयोगसे उपलब्ध ऐतिहास—जो ईर्ष्या एवं पञ्चपातसे रहित है—हमारी इस विशामें कुछ सहायक हो सकते हैं अथवा नहीं—यह भी विचारणीय है। साथ ही इन प्रमाणोंको वितरणाप्रिय कुतार्किंगण कहाँ तक प्रहरण करते हैं, यह भी निरपेक्ष रूपमें विवेचनीय है।

लगभग २०० वर्ष पूर्व श्रीचेतन्य देवके आश्रित एक सेवकने भौगोलिक-स्थानोंकी स्थितिके विषयमें एक प्रन्थ लिखा था। ३०० वर्ष पूर्व कटवा निवासी किसी अद्वैत-सन्तानने श्रीनवद्वीप-परिक्रमाका आयोजन किया था और उसी समय उन्होंने 'श्रीनवद्वीप धाम परिक्रमा' नामक एक पुस्तिका छपवायी थी। उस पुस्तिकामें बामनपुकुरकी स्थितिका वर्णन है। आजसे १०० वर्ष पूर्व भी हाथीकाटा द्वीपेर माठ, बामनपुकुर, बल्लाल दीघी, डेंगापाड़ा, वैरागी डाङ्गा,

ब्रजपत्तन और श्रीमायापुर आदि पल्लीग्रामसमूह श्रीधाममायापुरके नामसे ही पुकारे जाते थे अर्थात् ये सब प्राम श्रीधाम मायापुरके अन्तर्गत विभिन्न महल्ले थे; परन्तु पूर्व-प्रवर्त्तित नामबाले महल्ले आज-कल उसी-उसी नामोंसे पृथक्-पृथक् छोटे-छोटे प्राम के रूपमें दिखायी पड़ते हैं। इसलिए कुछ दिनोंसे श्रीधाम मायापुरका आकार छोटा हो गया है। श्रीचैतन्य महाप्रभुके अप्रकटके कुछ ही दिनोंके पश्चात् मामगाढ़ीके श्रीवृन्दावनदास ठाकुरने स्वरचित् श्रीचैतन्य भागवतमें श्रीनवद्वीपकी भौगोलिक स्थितिका जैसा उल्लेख किया है, दैसा सुहृद प्रमाण और किसी भी मन्थमें उपलब्ध नहीं होता। यह मन्थ ईशाको सोलहवीं शताब्दीके शेषाद्वार्द्धमें रचित है।

श्रीधाम मायापुर प्राचीन नवद्वीपकी स्थितिके बर्णनमें गङ्गाके एक ही ओर बसे हुए प्रामोंमें गङ्गानगर, शिमुलिया, काजीर नगर, ताँतिपाड़ा, गोयाला पाड़ा, गादीगाढ़ा, माजदिया और पारडागा आदि के नामोंका उल्लेख पाया जाता है। गङ्गाके दूसरे किनारेमें विद्यानगर, कुलिया आदि कुछ प्रामोंके नाम भी पाये जाते हैं। ये सब गाँव नदियानगरके ताल्कालिक उपकरण मात्र हैं। अब यह देखना है कि उल्लिखित गाँवोंका आजकल कोई अस्तित्व है या नहीं? किसी भी एक किनारेके गाँवसे दूसरे किनारे पर स्थित प्रामकी स्थितिका पता चल सकता है।

— जगदगुरु उद्दिष्ट्युपाद श्रीसरस्वती ठाकुर

## श्रद्धा

अनादिकालसे ही अगणित जीव मायामोहित होकर हम संसारमें भ्रमण कर रहे हैं। स्वरूपतः जीव कृष्णदास है। अपने स्वरूपगत दासत्वको भूल कर भोग पालनाओंके अधीन दौनेके कारण ही जीव मायाका दास हो पड़ा है। श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने कहा है—

जोवेर स्वरूप हय कृष्णेर नित्यदास ।  
कृष्ण मूल लेई जीव अनादि बहिमुख ।  
अतएव माया तारे देय संसार-दुःख ॥

मायाबद्ध जीव इस भवसागरमें पतित होकर असीम क्लेश भोग कर रहे हैं। वे सुखकी आशा

से चारों ओर भाग-दौड़ कर रहे हैं। वे सोचते हैं कि अमुक वस्तु पानेसे सुख मिलेगा। परन्तु बहुत कष्ट सहकर उस वस्तुको प्राप्त करने पर भी उससे उन्हें सुख नहीं मिलता। तब ने दूसरी तम्तु पानेकी चेष्टा करते हैं; परन्तु किसी भी प्रकारसे उन्हें सुख नहीं मिलता। किर भी न तो सुख पानेकी आशा ही मिटती है और न हृदयको शान्ति ही मिलती है। मायारूपी शत्रुके दास होकर उसकी लातें खाने पर भी नीद नहीं टूटती और उसे त्याग बरनेकी भी इच्छा नहीं होती। मायामें एक ऐसी मोहिनी शक्ति है कि जीव उसे भोग करनेके लिए अत्यन्त लालायित हैं और उसीके दासत्वमें ही अपना सुख समझते हैं।

भगवान् व्यक्ति घनके अभिमानमें मस्त होकर दरिद्रों को घृणाकी हश्चिसे देखते हैं, बुद्धिमान् व्यक्ति मूर्खों के उपदेशको महण करना नहीं चाहते। कोई अविद्यारूपी विद्या अर्जन कर उसीके बृथा अभिमानमें चूर है, कोई उसके अभावमें अपनेको दुःखी मानते हैं। चिन्मय जगतका दिव्यरत्नस्वरूप जीव आज इस तरह संसार गर्तके कीचड़में गिरकर मलिन हो गया है। जब भगवान् श्रीकृष्णमें अद्वारूपी निर्मल जलके द्वारा विषयासक्तिरूपी कीचड़को धोया जायगा, तभी जीवरूप रत्नकी उयोगि—कृष्णभक्ति स्वर्थ उदित होगी। उसी समय वह चिन्मय-रत्न-स्वरूप जीव भगवत् धाममें जा सकेगा। किन्तु वह अद्वारूपी जल कहाँ और कैसे मिले?

इस पंशारके अपार दुःखमें दुःखी होकर जब जीव उससे छुटकारा पानेकी चेष्टा करता है, तब भगवान्के अस्तित्वको माननेके लिए बाध्य होता है। तब वह साधुमङ्ग करनेकी चेष्टा करता है। साधुमङ्ग से उसे सदुपदेश प्राप्त होते हैं। क्रमशः वह शास्त्रोंका विचार कर उनके यथार्थ अर्थ पर विचार करता है। उस समय उसके मनमें यह हठ विश्वास पैदा होता है कि ईश्वर भगवान् एवं सर्वशक्तिमान् हैं तथा जीव जुद्र और शक्तिहीन है; ईश्वर स्वाधीन हैं और जीव उनके अचिन्त्य शक्तिके अधीन है; ईश्वर प्रभु हैं और जीव उनका दीनहीन जुद्र दाम है। तब वह पूर्ण आनन्द स्वरूप भगवान्को पाकर समस्त प्रकार के दुःखोंसे छुटकारा पानेकी चेष्टा करता है। उस समय उसके मनमें सर्वाश्रय स्वरूप भगवान् श्रीहरिका आश्रय लेनेकी प्रबल इच्छा स्वभावतः ही

उदित हो पड़ती है। वह भगवान्को पानेके लिए थोड़ी-थोड़ी चेष्टा भी करता है। यही अद्वाकी प्रथम अवस्था है।

मायाके संसर्गसे जीवका स्वभाव विकृत हो जाने से वह जडाभ्यस्त हो पड़ा है। इसलिये सत्सङ्गके अभावमें या कुसङ्गके दोषसे अद्वा लोप भी हो सकती है। इसलिये उस समय साधुसङ्गकी नितान्त आवश्यकता है। साधुसङ्गके प्रभावसे यही अद्वा बढ़ती जाती है और साथ ही साथ व्याकुलता भी बढ़ती चली जाती है। उस समय जीव यही सोचते हैं कि किस उपायसे भगवान्को पाया जाय? वे यह देख पाते हैं कि अनर्थोंने उन्हें बशीभूत कर रखा है और उनका स्वभाव सुप्तावस्थामें है। तब वे अनर्थोंसे मुक्त किसी जाप्रत ईश्वरयुक्त साधु-पुरुष का पदाधार करते हुए एकनिष्ठ होकर भगवत् भजन-में प्रवृत्त होते हैं। अद्वाको इसी अवस्थाका नाम हठ या निर्गुण उद्देशिनी अद्वा है। यही “भक्तिलता का बीज” है। श्रीश्रीचैतन्यचरितामृतमें “अद्वा” की पञ्चालिका इस उद्देशे की गई है—

“अद्वा शब्दे विश्वास कहे सुहृद् निश्चय।

कृष्णभक्ति कैले सर्वकर्म कृत हय ॥”

अर्थात् एकमात्र कृष्णभक्ति ही जीवका नित्य-स्वभाव है। श्रीकृष्ण-सेवा ही जीवोंका एकमात्र कर्त्तव्य है। इसलिये कृष्णभक्ति करनेसे सब कार्य सम्पन्न हो जाते हैं—ऐसे हठ निश्चय और विश्वास को अद्वा कहते हैं। मायाबद्ध जीवोंका स्वभाव विकृत हो गया है। इसलिये जीवोंका सबसे बड़ा श्रेयः इसीमें है कि वे स्व-स्वभावको प्राप्त करनेके लिये

देहयात्राको सुचारु रूपसे निर्वाह करते हुए कृष्णानुशीलन करें। अतएव बुद्धिमान व्यक्ति भक्तिके अनुकूल विषयोंको ही प्रहण करते हैं और भक्तिके प्रतिकूल विषयोंको असार जानकर त्याग करते हैं। अद्वावान् व्यक्तियोंका कर्माधिकार नहीं है, क्योंकि जो श्रद्धा निष्काम कर्मके द्वारा प्राप्त होती है, उससे उत्तम श्रद्धा उनमें स्वभावतः ही उदित हो गयी है। श्रीकृष्ण उद्घवसे कहते हैं—

तावत् कर्मणि कुर्वात न निविद्येत यावता ।

मत्कथा अवणादी वा श्रद्धा यावन्न जापते ॥

( भा० ११२०६ )

अर्थात् जब तक कर्मफलके लिये विराज न उत्पन्न हो, अथवा भगवानकी लीला-कथाओंके अवण-कीर्तनमें अद्वा न उत्पन्न हो जाय, तभी तक कर्म करनेका अधिकार है। अद्वालु व्यक्ति कर्मफलके प्रति आसक्त नहीं होते, क्योंकि वे एकमात्र कृष्ण-भक्तिको छोड़कर और कुछ भी नहीं चाहते। उन्हें दरिकथाका शबण-कीर्तन करनेमें ही आनन्द मिलता है—उसीमें वे आसक्त होते हैं। “सर्वधर्मान् परिन्यामः” इसोक्ते अनुशास ने सम्पूर्ण भर्म-कर्म पर्यां आशा-भरोसाओंका त्यागकर एकमात्र भगवानके शरणापन्न होकर “दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगत-स्फृः। वीतराग भय क्रोधः” अर्थात् दुःखमें अनुद्विग्न, सुखमें स्फृहादीन अनुराग, भय एवं क्रोध आदिसे विमुक्त होकर “आन्याभिलाषिता शून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्। अनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं” रूप उत्तमा भक्तिका आचरण करनेमें सर्वदा यत्न-

शील रहते हैं। इसलिये वे समस्त धर्मकर्मोंका परित्यागकर, शुष्क ज्ञानको तुच्छ जानकर एकमात्र विशुद्ध भक्तियोगके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रको प्राप्त होने की चेष्टा करते हैं। क्योंकि “अद्वावान् जन हन भक्ति अधिकारी”के अनुसार एकमात्र अद्वावान् व्यक्ति ही भक्ति पानेके अधिकारी हैं। “भक्ते भगवानेर अनुभव पूर्णरूप” के अनुसार एकमात्र भक्ति द्वारा ही भगवानका पूर्ण अनुभव प्राप्त होता है। इसलिये मायाबद्ध जीवोंके लिये श्रद्धा एक अमूल्य धन है। यही श्रद्धा साधनकी अवस्थामें कृष्णानुशीलनके द्वारा निष्ठा, रुचि, आसक्ति आदिके रूपमें पराणित होती है। भावके उदय होनेसे यही श्रद्धा निर्गुण-भ्रद्धा, राग या रति कहलाती है। यह रति प्रेम-मन्दिरमें प्रवेश करनेके लिये द्वारस्वरूप है।

अद्वालु जीव एकमात्र कृष्णभक्तिकी ही कामना करते हैं। यदि सूक्ष्मरूपसे भी उनके मनमें अन्य प्रकारकी वासनाएँ रहें, तो यही जानना चाहिये कि उतकी श्रद्धा आभी तक निर्गुण हो नहीं पायी है। साधुसङ्गके द्वारा जब तक वे अन्य अभिलाषाओंका परित्याग नहीं करते, तब उन्हीं उत्तमी भणि पातेकी सम्भावना कम ही है। शङ्खभक्ति ही जीवोंकी एकमात्र सम्पत्ति है। उस भक्तिको पानेके लिये सबसे पहले अद्वाकी ही आवश्यकता है। अद्वा नहीं होनेसे भक्ति पायी नहीं जाती।

सज्जनतोषणी, १ म खण्ड, संख्या ५, पृष्ठ १३३-३६

— जगद्गुरु अद्विष्टपाद भीत भक्तिविनोद ठाकुर

# श्रीमद्भागवतमें सख्यभाव

[ पूर्वं प्रकाशित वर्ष ८, संख्या ८, पृष्ठ १६१ से आगे ]

ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णको सखाके रूपमें वरण करनेके अनन्तर ग्वालबाल इतने निर्भीक हो गये थे कि उन्हें किसी प्रकारका न कही भय ही रहा था, न किसी प्रकारकी शंका, सभी अकुतोभय हो चुके थे। गोविन्दके मित्र होनेसे उनके दुखोंका भी अत्यन्तभाव था। श्रीकृष्णको निशिदिन किसी प्रकार का कही भी किसी समय कष्ट न हो, इसकी उन्हें चिन्ता करती पड़ती थी। जिम प्रकार एक रूपण सभी अवस्थाओंमें अपने घनका ध्यान रखता है, उसे निरन्तर संभालता रहता है, उसी प्रकार श्यामसुन्दर को मतिज्ञण उन्हें संभालागा पड़ता था, उनके व्याख्यानमें कौन रहना पड़ता था। ऐसी ही स्थिति ग्वालबालोंकी भी थी। वे भी अपने प्यारे कहैयाको एक चूणके लिये भी नहीं भूलते थे; शयन करते, उठते, जागते सोटनका सञ्चित ही उन्हें रुचता था। उन्हींके ध्यानमें सभी सतत लीन रहते थे। लौकिक हो या पारलौकिक उनके सभी कार्योंके मार्गदर्शा श्यामसुन्दर ही थे।

एक दिन बहुत ही सुहावना समय था। शीतलमन्द-सुगन्ध पवन चल रहा था। हरे-हरे बृक्ष झूम-झूम कर और भी शोभाकी वृद्धि कर रहे थे। पच्छी-गण अपने सुमधुर निनादमें व्यस्त था। ऐसे समय गोपोंके साथ श्रीकृष्ण अपने भाई बलदाऊको लेकर गोविन्दचारण कर रहे थे, साथही विविध प्रकारकी

बालकोचित क्रीड़ाएँ भी करते जाते थे। सभी अपने खेलमें इतने मस्त हो रहे थे कि किसीको और किसी प्रकारका ध्यान ही नहीं था।

सभीको गोविन्दचारण और क्रीडामें निमग्न देख अनुकूल समयकी प्रतीक्षा करता हुआ बकासुरका लघुध्राता अघासुर अपने भाईका बैर निकालनेके लिये विशाल अजगरका रूप धारणकर बहाँ आ डटा और श्यामसुन्दरको गोपबालोंके साथ उसने निगलने का निश्चय कर लिया।

अथ तु ये सोदरनाशकृतयोद्यमंभेनं सबलं हनिष्ये ॥  
एते यता तत्पुहरोत्तितापः कुतात्तदामष्ट तुमा प्रजौकशः ।  
प्राणेणतेवधर्मसु का तु चिन्ता प्रजासवः प्राणमृतोहि ये ते ॥

( भा० १०।१२।१४, १५ )

उसने मन-ही-मन सोचा कि इसने मेरे दो सहोदरोंका विनाश किया है। इसलिये उसकी पूर्तिमें इस कृष्णकी तथा इसकी सेना जो ग्वालबाल हैं—उसका वध करूँगा। जब ये सब मरकर मेरे सहोदरों के मृत-तर्पणकी तिलांजली बन जायेंगे, तब सारे ब्रजबासी अपने-आप मरनेके समान हो जायेंगे, क्योंकि सन्तान ही प्राणियोंके प्राण हैं। जब प्राण ही न रहेंगे, तब शरीर कैसे होगा? अतएव इनकी मृत्यु से ब्रजबासी अपने-आप ही मर जायेंगे। ऐसा विचार कर उसने अपना भयंकर मुख फैलाकर मार्गमें लेट गया। उसे उस अवस्थामें देखकर ग्वाल-

बालोंको भ्रम हो गया। उन्हें वह वृन्दावनका एक अपूर्व स्थल ही दिखायी दिया। उन्होंने यह समझा कि यह एक अजगरकी-सी आकृतिबाली एक अतिशय मुख्य पर्वत-गुहा है।

दृष्टा तं ताहशं सर्वे मत्वा वृन्दावनं श्रियम् ।

व्यात्तनगरतुण्डेन हृत्येकान्ते स्म लीलया ॥

( भा० १०।१२।१८ )

इस अजगरको देख उसे भूलसे वृन्दावनकी शोभा-सम्पत्ति समझ कर सब बालक कौतुकसे खेलते-खेलते हँसी करते हुए यथार्थ अजगरके मुख्यकी अजगरके मुख्यसे उत्प्रेक्षा करने लगे और उसके रूपरूप शोभा का वर्णन करते हुए धारे धारे एक-एक करके सब उसके मुखमें प्रवेश कर गये। परन्तु उस कुटिल शब्दमें श्रीकृष्णको गुहामें लेनेके देजु शुल कर्म नहीं किया। कन्हैयाने जब अपने सभी साथियोंको अजगरके मुखमें गया हुआ देखा तो—

तांवीश्य कृष्णः सकलाभयप्रदोह्यनन्यनाथान्व-

करादवच्छ्युतान् ।

दीनाइचमृत्योजंठरामिघासाम्यृणादितोदिष्टकृते-

नविस्मितः ॥

( भा० १०।१२।२७ )

सबके अभयदाता भगवान् कृष्ण अपने हाथसे निकले हुए चेचारे ग्वालबालोंको—जिनका दूसरा कोई स्वामी नहीं है, मृत्युके समान अधासुरकी जटरामिनें घासरूप अथवा कबलरूप हुए जान दयासे पीड़ित हो तथा दैवते कर्त्त्यसे विस्मित होकर विचार करने लगे कि किस प्रकार मेरे माथी जीवित रहें और इस दुष्टका नाश भी हो।

अस्तु, दीनवन्धुको विचार करनेमें अधिक विलम्ब न लगा! उन्होंने शीघ्र ही निश्चय कर लिया और स्वयं भी प्रसन्न मुख्यारविन्दसे उसके मुखमें प्रवेश कर उसके गलेके ढारको रुद्रकर उसे मार डाला। अनन्तर मरे हुए गोप-बालकों एवं बछड़ोंको अपनी अमृतमयी हृषिसे जिला दिया और उन सबको साथ लेकर वे अधासुरके मुँहसे बाहर निकल आये।

इस प्रकार मदोन्मत्त अजगरका बधकर अपने साथियोंकी रक्षाकी। किर वहाँसे खेलते-कूदते यमुना पुलिनपर सबको साथ लेकर आये और कहने लगे देखो यह खेलनेके योग्य कैसा सुन्दर स्थल है? यहाँ की बाल अतिशय कोमल और स्वच्छ है। प्रकृतित कमलबाले सरोवरोंकी सुगन्धीके लोमसे आकर्षित भींगे गुज्जन कर रहे हैं और सुन्दर पन्नी मधुर कलश कर रहे हैं, जिसकी प्रतिध्वनिसे दूसरी ओर शोभयमान वृक्ष चारों ओर शोभा बढ़ा रहे हैं। अब हम लोग यही बैठकर भोजन करें। दिन बहुत चढ़ गया है। भूख भी लग गई है। बछड़े यहीं जल पीकर निकट ही धीरे-धीरे घास चरते रहें। निदान साथियों ने श्रीकृष्णकी इच्छानुसार बछड़े आदिको जल पिलाकर हरे हरे लृण चरनेको छोड़ दिया और सभी सब बालक गोल मण्डलाकार होकर बैठ गये। सभीने अपने विचिध भाँतिके छोल लिये।

उस समय मोहनके समक्ष बैठे हुए ग्वालबाल कमलकी कर्णिकाके समान शोभित हुए। वहाँ किसी ने फूलकी टंगुरियोंके, किसीने पत्तोंके, किसीने छालके, किसीने शिलाके ऊपर अपना भोजन रक्खा और भोजन करना आरम्भ कर दिया। सभी अपने-अपने जुदे-जुदे भोजनके पदार्थोंका स्वाद-

बखानते जाते थे, हँसते जाते थे और गोप विषयारी नटराज नन्दनन्दनके साथ भोजन कर रहे थे । कितने भाग्यशाली थे वे खालबाल !

विभृद् वेणुं जठर पटयो भृङ्गं वेत्रे च कष्टे  
वामे पाणी मसृणं कवलं तत्फलान्यज्ञं लीषु ।  
तिष्ठन् मध्ये स्वपरि सुहृदोहासयन्नमंभिः स्वं  
स्वमैलोकेमिष्टि बुभुजे यज्ञभुक् बालकेति ॥  
( भा० १०।१३।११ )

बालकोंमें यज्ञ-भोक्ता भगवान् श्रीकृष्ण कटिमें वंशी धारण किये, सींग एवं बेत बांये कच्छमें लिये, घृतमिश्रित दहीभातका कौर ले, उसके योग्य-फल औंगुलियोंकी संधिमें रख भगवान् सबके सम्मुख एककालिक विराजमान हुए कमल कणिकाके समान लगाते थे और हाँसभरे पथरोंसे लबझों दृঃसाते थे, स्वयं हँसते थे । इसे देवगण देखता था । इस प्रधार एक और सभी साथियोंके साथ भगवान् श्रीकृष्ण भोजनमें लीन हो रहे थे, दूसरी ओर बछड़े तुणके लोभसे चरते-चरते दूर चले गये । तब सभी गोप-खालोंको, बछड़ोंको न देखनेसे भीत जानकर स्वयं श्रीकृष्ण-जिनसे मृत्यु भी भय खाती है, अपने मित्रोंसे बोले—‘तुम कोई भी भोजन छोड़कर मत उठो, मैं आभी बछड़ोंको यहाँ लिये आता हूँ’—इस प्रकार मृदु बचन कहकर हाथमें कौर लिये पर्वतोंपर, गुहाओंमें, कुँजों और इधर-उधरके दूसरे स्थलोंमें, हूँढ़ते-हूँढ़ते थक गये । परन्तु बछड़े कहीं भी न मिले, तब लीलाधारी बनमाली कुछ समयके लिये विचार-मन होगये और सोचते सोचते तथा हूँढ़ते-हूँढ़ते पुनः यमुना तटपर लौट आये । परन्तु वहाँ अपने साथियोंको नहीं पाया । तब तुरन्त श्रीकृष्णने जान

लिया कि यह कार्य ब्रह्माजीका है । वह मेरी मायाशक्तिको देखना चाहता है । तो मैं ब्रह्माको भी योगिनांमपि मोहिनों” मायाका दर्शन कराता हूँ और उनके अभिमानको चूर्ण करता हूँ । उस समय ऐसा विचारकर श्रीकृष्ण अपनी मायाका दर्शन कराने के लिये स्वयं ही बालक और बछड़ोंके रूप धारण कर यथा समय ब्रजकी ओर चले । इस लीलाका रहस्य ब्रजमें किसीको भी ज्ञात न हो सका । बछड़ोंकी माताओंने तथा खालोंकी माताओंने, परिवार बालोंने भी उन्हें पूर्व भावसे, उसी रूपमें देखा । वे सब भी मदैव की भाँति अपने-अपने स्थानोंको चले गये । माताओंने बालकोंको स्नेहमें भोजन कराया, गौओंने अपने बछड़ोंको दूध पिलाया । इस प्रकार रहस्य भरी यह कीदा पूरे वर्ष पर्यन्त चलती रही, न किसीने किसीको पहिचाना, न दूसरे रूपमें दी जाना । एक दिन बलदेवजीयों दक्षरोत्तर ग्रेसकी वृद्धि देख सन्देह हुआ और उन्होंने ज्ञान हाप्तिसे देखा तो खालबाल बछड़े उन्हें सब श्रीकृष्णके रूपमें दिखाई पड़े । उन्होंने विस्मत होकर श्रीकृष्णसे पूछा कि दग जिन गोपखालको और बछड़ोंका पालन कर रहे हैं, वे शृष्टियोंके अंश हैं, देवताओंके अंश हैं, यह तो मेरे ध्यानमें है, परन्तु अभी वैसा देखनेमें नहीं आता है । अभी तो जुदे-जुदे इन मबोंमें एक आप ही भास रहे हो । इसलिये जो भी बात हो, मुझसे स्पष्टरूपमें कहो । कहैयाने अन्तमें भाईको सारी बातें समझा दी ।

इधर ब्रह्माजीने भी विचार किया कि जो ब्रजके खाल-बाल और बछड़े हैं, वे सब मेरी मायासे मोहित हैं । उनसे मिल ये सब कहाँसे आगये, जितने मैं ले गया ? , तने हैं ! बालकोंके साथ उसी स्थान

पर श्रीकृष्ण कीड़ा करते हुए गोचर होते हैं। ऐसे बहुत समय तक विचार करके भी ब्रह्मा सत्य-आमत्य-का निर्णय न कर सके—

एवं सम्मोहन्यन् विष्णुं विमोहं विश्वमोहनम् ।  
स्वयंव भाययाऽजोषि स्वयमेव विमोहितः ॥  
( भा० १०।१३।४४ )

भगवान् श्रीकृष्णकी मायामें तो सभी मुख हो रहे हैं परन्तु कोई भी माया-मोह भगवानका स्पर्श नहीं कर सकता। ब्रह्माजी उन्हीं भगवान् श्रीकृष्णको अपनी मायासे मोहित करने चले थे। किन्तु उनको मोहित करना तो दूर रहा वे आजन्मा होने पर भी अपनी ही मायाद्वारा अपने आप मोहित हो गये। उस समय ब्रह्माजीको एक बड़े आश्चर्यकी बात दिखेलायी नहीं—

त्रिवेद्यम् ब्रह्मायामः गदयतोऽनरप तत्परणात् ।  
ध्यहृश्यत्त घनश्यामाः पीतकोशेय वासतः ॥  
किरीटिनः कुण्डलिनोहारिणो वनमालिना ॥  
( भा० १०।१३।४६,४७ )

ब्रह्माजीने देखा कि सबके सब भ्वाल-बाल और नद्यै हरण रक्षा न हो गये हैं। राजना गवीन भेद भा॒श्यामवर्ण है, सबके अङ्गोंपर पीताम्बर सुशोभित हो रहे हैं, सभी चतुर्भुज हैं। उनके चारों हाथोंमें क्रमशः शंख-चक्र-गदा-पद्मा, शोभित हो रहे हैं। मस्तक पर मोर मुकट, कानोंमें कुरुक्षेत्र तथा गलेमें हार और बनमाला है। साथ ही ब्रह्माजीने यह भी देखा कि ब्रह्मासे लेकर स्थावर-जंगम सभी उनकी सेवा कर रहे हैं। वे चौबीस तत्त्वोंसे परिवेषित हैं। आत्मज्ञानी

महात्मा भी उनके माहात्म्यका स्पर्श-नहीं कर सकते। इस प्रकार सबको ही ब्रह्माजीने परब्रह्मके रूपमें देखा।

ब्रह्माजीको इस प्रकार अधिक काल तक भ्रमित और मोहित देख कर श्रीकृष्णने मायाकी यज्ञनिका हटा ली। निदान ब्रह्माने निरभिभान हो हंसकी सवारीको छोड़कर श्रीकृष्णके चरणोंमें दृण्डवत् प्रणिपात होकर स्तुति की और अपनी पराजय स्वीकार कर वे ब्रह्मलोकको प्रस्थान कर गये। इसके पश्चात्—

ततश्च पौगण्डवयः श्रितो ब्रजे वभूवतुस्तौ पशुपालसम्मतौ ।  
गायचारयन्तौ सखिभिः समपवैवृद्धावनं पुण्यमतीव चक्तुः॥

( भा० १०।१३।१ )

फिर पौगण्ड आवध्यामें वे दोनों भाई जन्में गीवाको चराने गोग्ग दृष्ट और नव गायोंको चराते हुए मित्रोंके साथ वृन्दावनको अपने चरणोंसे पवित्र करने लगे।

इस समय पर्वतके समीपकी नदियोंके तटों पर गायोंको चराते हुए भौंगोंको गाना हुआ देख चरके शाय रहते, कभी हसीका अनुकरण करते, कभी बालकों को हँसाते कभी मयूरको नृत्य करता देख स्वयं भी उसके साथ दुमुक-दुमुक कर नाचते, कभी विभिन्न प्रकारके पञ्चियोंके शब्दोंका अनुकरण करते, कभी भेद गम्भीर वाणीसे गायोंका नाम ले ले कर चुलाते, कभी व्याघ्र, सिंह आदिको देख भ्वाल-बाल और बछड़ोंके साथ भागते, कभी अपनी मण्डलीके साथ नाचते, गाते, कूदते, युद्ध करते, कभी मझ युद्ध

से थक जाते तो खालबाल श्रीकृष्णके पैर दाढ़ते, कभी पत्रोंसे पवन करते ।

एवं निगृहात्मगतिः स्वमायया गोपात्मजंत्वं  
चरितंविडम्बयन् ।

रेमे रमालालित पादपलबो ग्राम्यैः समं ग्रामवदी-  
शब्देहितः ॥

( भा० १०।१४।१६ )

भगवानने इस प्रकार अपनी योगमाचासे अपने प्रेष्वर्यमय स्वरूपको छिपा रखा था । वे ऐसी लीलाएँ करते जो ठीक-ठीक गोप बालकों सी ही मालूम पड़तीं । स्वयं भगवती लइमी जिनके चरणकमलोंभी सेवामें नित्यकाल संलग्न रहती हैं, वे ही भगवान् इन ग्रामीण बालकोंके साथ बड़े प्रेमसे ग्रामीण खेल खेला करते थे । परीक्षित ! ऐसा होनेपर भी कभी-कभी उनकी प्रेष्वर्यमयी लीलाएँ भी प्रकट हो जाया करती थीं ।

एक दिन—

श्रीदामा नाम गोपालो राम केशवद्योः सत्ता ।  
मुवच्छ्वलोक्तुर्कृष्णाला गोपाः प्रेमोदप्रवृत्तन् ॥

( भा० १०।१५।२० )

श्रीबलराम और श्रीकृष्णके अंतरज्ञ सखाओंमें एक प्रधान गोपबालक थे श्रीदाम । एक दिन उन्होंने तथा सुबल और स्तोककृष्ण आदि खाल-बालोंने राम और श्यामसे बड़े प्रेमसे इस प्रकार कहा—

हे राम, हे दुष्टोंके धातक श्रीकृष्ण, यहाँसे थोड़ी ही दूर पर एक बड़ा सुन्दर तालवन है । वहाँ बड़े स्वादिष्ट और पके हुए फल हैं । परन्तु धेनुकासुर

नामक दैत्यके ढरके मारे कोई भी प्राणी उस बनमें प्रवेश तक नहीं कर पाता, फलोंका आस्ताद्वन करना तो दूर की बात है । उन फलोंको खानेकी हमारी बड़ी इच्छा हो रही है । यदि आप वहाँ पधारें तो हमारी अभिलाषा पूर्ण हो । मित्रोंकी यह बात सुनकर उन्हें प्रसन्न करनेकी इच्छासे दोनों भाई हँसकर गोपों के साथ तालवनको पधारे । वहाँ पहुँच कर ताल वृक्षोंको जोरोंसे हिलाकर बहुतसे फल गिरा दिये । इसी बीच पेड़ोंके हिलने तथा फलोंके गिरनेका शब्द सुनकर धेनुकासुर अपने साथियोंके साथ दौड़ता हुआ आया और राम-कृष्ण पर आक्रमण कर दिया । परन्तु राम-कृष्णने उन सभी आसुरोंको मार कर उस बनको सबके लिये उपयोगी बना दिया ।

कृष्णः कमलः पवानः पुण्यभवण कीर्तनः ।

स्त्रयमानोऽनुजो गोपैः साप्तज्ञो व्रजमादजत् ॥

( भा० १०।१५।४१ )

जिनकी लीला-कथाओंका अवगाः-कीर्तन सबसे बढ़ कर पवित्रकारी है, जिनकी गोप स्तुति करते हैं, ऐसे कमल-नवन भगवान् श्रीकृष्ण बलभद्र सहित सार्थकाल व्रजमें पधारे । उस समय नन्दनन्दनकी शोभा अपूर्व थी ।

तं गोरजश्चुरितकुम्तलबद्धंवन्यप्रसूनहचिरेकणचारु-  
हासय ।

वेणु ववणन्तमनुगृहनुगीतकीतिगोप्यो विहितहशोऽभ्यगमन्  
समेताः ॥

पीत्वा मकुन्दमुखसारघमक्षिभृंगस्तापं जहुविरहं व्रज-  
योवितोऽहिं ।

तत्सत्कृति समधिगम्य विवेश गोहृं सद्गौङ्गासविनयं यद्-  
पांगमोक्षम् ॥  
( भा० १०।१५।४२,४३ )

उस समय श्रीकृष्णकी धुँधराली अलको पर गीबोंके सुरोंसे उड़कर धूलि पड़ी हुई थी; सिर पर मोरमुकुट सुशोभित हो रहा था। उनके केशपाशा सुन्दर-सुन्दर बन-पुष्पोंसे सुसज्जित था, नेत्रोंमें मधुचितवन और मुखपर मनोहर मुसकान खेल रही थी। वे मधुर-मधुर मुरली बजा रहे थे। ग्वाल-बाल उनकी पवित्र कीर्तिका गान कर रहे थे। उनकी बंशीकी तरत ष्वनि तुगाकर बहुत ती गोपिण्डाँ एक साथ ही ब्रजसे बाहर निकल आयी। न जाने कबसे उनकी आँखें श्रीकृष्णके दर्शनोंके लिये तरस रही थीं। गोपिण्डोंने अपने नेत्रस्प भ्रमरोंसे श्यामसुन्दरके मुखार्थविन्द का मकरान्ध रस-पान करके दिनभरके विरहकी ज्वाला बो शान्त किया। रसिक-शोभर श्रीकृष्णने भी उनकी लाजभरी मुसकान और विनययुक्त प्रेमभरी तिरछी चितवनका सत्कार प्रहण करते हुए ब्रजमें प्रवेश किया।

इस प्रकार ब्रजवासी ग्वालबालोंके साथ लीला करते हुए बहुत समय बांत गया।

एक दिन मध्याह्नके समय—

एवं स भगवान् कृष्णो वृन्दावनचरः वचित् ।  
यथो राममृते राजन् कालिन्दो सखिमिर्वृतः ॥  
( भा० १०।१५।४७ )

भगवान् कृष्ण वृन्दावनमें विचरण करते हुए बहरामजीके बिना सब सखाओंको साथ ले यमुना तट पर पहुँचे। उस समय प्रीघ्मके घामसे ग्वालबाल

और गौंहें अत्यन्त पीड़ित हो रही थीं। प्याससे उन सबका गला सूख रहा था। इसलिए उन्होंने यमुना का जलपान कर लिया। परन्तु यमुना जल पीनेके साथ ही वे सभी किनारे पर गिर कर मर गये।

वीक्ष्य तान्धे तथा भूतान् कृष्णो योगेश्वरेश्वरः ।  
ईक्षयाऽमृतवर्धिण्यां स्वनाथान् समजीवयत् ॥  
( भा० १०।१५।५० )

ऐसा देखकर योगेश्वरोंके भी ईश्वर भगवान श्रीकृष्णने अमृत बरसाने वाली अपनी हस्तिसे सब को जीवित कर दिया; क्योंकि उनके एकमात्र स्वामी और यजमांश तो केवल श्राप हो रहे हैं।

फिर सोचा कि कभी अन्य समय भी विषके कारण ऐसी पढ़ना पुगार्ह चढ़ सकती है। इसलिये यमुना नदीसे कालीयतागांठों निकाल बाहर करनेका निश्चय कर लिया। ऐसा निश्चय कर वे कदम्ब वृक्ष पर चढ़कर यमुनाके विशाल चिखेले हृदमें कूद पढ़े। प्यारे सखाओंके चिखेले यमुना बहमें कूदा देखकर कुहराम गम्य गया। इधर विषभर कालीय नाग अपने निचाल रपानमें हृष्णोंको निर्भीक होकर जल चलाकर दूष विचरण करते देखकर क्रोधसे भयंकर हो उठा। उसके कृष्णको अपने शरीरके बन्धनसे जकड़ कर उनके मर्म स्थानोंको ढंसने लगा। श्रीकृष्ण नागपारा में बँधकर बिलकुल निश्चेष्टसे हो गये।

त नागभोगपरिवीतमहृचेष्टमालोक्य तत्प्रियसला पशु-  
पामृशातः ।

कृष्णोऽपितात्म मुहूर्वकलत्रकामा दुःखानूशोकमयमूढ-  
धियो निषेतुः ॥  
( १०।१६।१० )

श्रीकृष्णके शरीरको सर्पसे बेघित एवं निश्चेष्ट देख उनके प्यारे मित्र गोप अति दुखी हुए और भयसे चेतना रहित होकर गिर गये । वयोंकि उनके तो आत्मा, मित्र धन, स्त्री और भोग श्रीकृष्णको ही अपित थे ।

गावो वृषा वत्सतर्यः कन्दमाना सुदुःखिताः ।  
कृष्णे न्यस्तेक्षणा भोता रुदत्य इव तस्थिरे ॥

( भा० १०।१६।११ )

गाय, बैल, बछिया और बछड़े बड़े दुखी होकर दीन शब्दोंसे शोक प्रकट करते हुए भीत भावसे श्रीकृष्णकी ओर एकटक निहारते हुए जैसेके तैसे खड़े रह गये, उनके नेत्रोंसे जल घहने लगा । जान रक्षा जैसे अधिक दुःखके कारण रो रहे हैं ।

उस समय श्रीकृष्णने गोकुलचाली जगते सामियों, अपने माता-पिता, गायों और गोपियोंकी दशा देख कर सोचा कि ये सब मेरे निना किसी भी प्रकार से वियोगमें अधिक बाल जीवन धारण नहीं कर सकेंगे और इथर इस कालीयनागका भी अब अधिक दिनों तक चढ़ाँ निवास करणा लभी की विपत्तिका कारण ।

है । अतः इसके मदको चूर्णकर इसे शक्तिहीन कर यहाँसे निकाल कर ही विश्राम लेना ठीक है, ऐसा निश्चय कर उसके अभिमानको, उसकी शक्तिको चूर्णकर, उसे अपने पूर्व निवास-स्थान पर जानेका आदेश दे दिया । बाधा रहित होकर आप कालीय दहको निर्विष करते हुए बाहर निकले ।

कृष्णं हृदाद विनिष्कान्तं दिव्यस्त्रयगन्धवससम् ।

महामणिणणाकीर्णं जाम्बूनवपरिष्कृतम् ॥

उपलभ्योत्थिताः सर्वे लवधप्राणा इवासवः ।

प्रसोद निभृतात्मानो गोपाः प्रीत्याभिरेभिरे ॥

( भा० १०।१७।१३, १४ )

इधर श्रीकृष्ण दिव्य माला, गन्ध, दिव्य वस्त्र, महामणि एवं सुवर्णके आभूतगणोंसे बिभूषित होकर उस लुगड़के बाहर निकले ।

श्रीकृष्णको बाहर निकला हुआ देख चेतन ( प्राण ) पाने पर इन्द्रियोंकी तरह सब गोप सचेत होकर उठ खड़े हुए एवं आनन्दपूर्ण मनसे प्रसन्नता पूर्वक दौड़-दौड़ कर उनको गलेसे लगाया ।

( क्षमशः )

— बागरोदी हृष्णस्त्र शाढ़ी

## श्रीरथ-यात्रा-महोदयका आङ्कान

गौदीय वैष्णवाचार्य उचिष्टानुपाद श्रीसच्चिदानन्द भक्तिविनोद ठाकुरके तिरोभाव एवं श्रीश्रीजगन्नाथ देवकी रथ-यात्राके उपलक्ष्यमें आगामी ६ आपाइ, २१ जून १९६३, शुक्रवारसे १६ आपाइ, १ जुलाई १९६३, सोमवार तक ग्यारह दिवस व्यापी प्रवचन, भाषण, संकीर्तन, रथ-यात्रा आदिका विराट अनुष्ठान होगा । धर्म-प्राण सज्जन महोदय इस शुद्ध भक्ति-अनुष्ठानमें सबान्धव योगदान करेंगे । सहायता आदिके इच्छुक महोदयोंको त्रिदण्ड स्वामी श्रीमद्भक्ति प्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराज, श्रीउद्धारण गौदीयमठ, चौमाथा, पो०, चुचुड़ाके पत्तो पर भेजना चाहिए ।

— — —

— समितिके सभ्यहृन्द

# श्रीमन्महाप्रभुकी शिक्षा

## आठवाँ परिच्छेद

तटस्थ-गठनवशतः जीव हृत्तदशामें मायामुक्त होता है

मायासे मोहित होकर अनादि कर्म-वासनाकी जंजीरमें बँधा रहने पर भी जीवका अपना तटस्थ गठन और धर्म नष्ट नहीं होता। इस अवस्थामें निसर्गजनित ( बदले हुए स्वभावके कारण ) मायिक संस्कार प्रबल होने पर भी जीवका लुप्तप्राय चेतन स्वभाव—जो कृष्ण दास्य है, वह अवश्य ही विद्यमान रहता है। यह लुप्तप्राय स्वभाव अर्थात् कृष्णदास्य थोड़ासा सुयोग पानेके ही पुनः प्रवाट हो पड़ता है तथा अपना परिचय देता है। यह सुयोग है—केवल साधुसङ्ग ।

प्राप्त ऐसे प्राप्तिकर्त्ता ऐसे तथा गुरुः ।  
तस्येते कृषिता ह्यार्थं प्रकाशाते महात्मनः ॥

( श्वेताखतर उ० )

जिनकी श्रीकृष्णके प्रति पराभक्ति अर्थात् शुद्धा-भक्तिके जरूरी रूपरूपा भक्ता ही तथा साधु गुरुके प्रति भी ठीक उसी प्रकारकी भक्ता है, उन्होंने महात्माओंके हृदयमें चेतना अथवा तात्पर्य सुरखा होता है।

संसार भ्रमिते कौन भाग्ये केह तरे ।  
नदीर प्रवाहे येन काढ लाने तीरे ॥  
कौन भाग्ये कारो संसार क्षयोमुख हय ।  
साधुसङ्ग करे, कृष्णे रति उपजय ॥  
साधुसंग, साधुसंग—सर्वशास्त्रेकय ।  
लब मात्र साधुसंगे सर्वसिद्धि हय ॥

'कृष्ण तोमार हँ' यदि बले एकबार ।

मायाबन्ध हैते कृष्ण तारे करेन पार ॥

( म० २२४३-४५ ५४, ६३ )

तात्पर्य यह कि कृष्णसे विमुख होने पर जीव संसार में त्रिविध तापोंसे दग्ध होता हुआ ८४ लाख प्रकार की योनियोंमें भटकता हुआ जन्म-मरणके प्रवाहमें बहने लगता है। इस प्रवाहसे उद्धार पाना बड़ा ही कठिन है। ऐसे स्त्रीभाग्यमें ही जीव साधुसङ्गका आश्रय पाकर इस प्रवाहसे छुटकारा लाभकर पुनः कृष्णदास्य रूप स्वस्वरूपमें प्रतिप्रित होता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार नदीके तोहण प्रवाहमें वहती लकड़ी स्त्रीभाग्यवश तोर पर जा लगती है। जब सौंपायसे किसीका संसार-प्रवाह ज्योन्मुख होता है, तभी वह साधुसंग करता है और उसके फल स्वरूप उसकी श्रीकृष्णके चरणोंमें रति उद्दित होती है। हयलिए यद्युपि शास्त्रीयै साधुसङ्गकी भद्रिभाका पराम प्रचुर रूपमें पाया जाता है। शास्त्रोंका कथन है कि ज्ञानभरका साधुसंग भी सर्वसिद्धिको भदान कर सकता है। परन्तु यह सत्संग सद्ज ही प्राप्त नहीं होता। यदि कोई जीव बड़े कातर होकर हृदयसे एक बार भी कृष्णसे ऐसी प्रार्थना करता है कि 'हे कृष्ण ! मैं तुम्हारा हूँ, तो कृष्ण साधुसंग प्रदान कर उसे मायाके बन्धनसे पार कर देते हैं।

बड़े भाग्यसे जब किसीका संसार ज्योन्मुख होता है, तभी वह साधुसंग करता है। अब प्रश्न

यह है कि वह “भाग्य” क्या है ? यदि भाग्यको ही संसार ज्यका कारण माना जाता है, तब अद्वा या साधुसंगको परम कल्याणका हेतु क्यों कहा जाता है ? भाग्य तो एक अन्धी घटना है जो बिना किसी वर्तमान चेष्टा द्वारा संयोगसे यों ही घट जाती है। यदि इस प्रकारके भाग्यको ही जीवोंके परम मंगलका एकमात्र हेतु माना जाता है, तब जीव अपने कल्याण के लिये जो चेष्टा या साधन करते हैं उसका महत्व ही क्या है ? उनकी वैसी चेष्टा व्यर्थ ही होती है। परन्तु बात ऐसी नहीं। इस विषयमें यथार्थ सिद्धान्त क्या है, इस पर विचार करनेके लिये हमें सर्वप्रथम जीवतत्त्वके मूलके प्रति हाथि करनी होगी। जीवका स्वभाव जिस समय गठित हुआ, उस समयके कर्म-कर्त्ता केन्त्र हैनर ही है, दूसरा कोई भी नहीं। इस जीवके जीवनभाव या चिन्हमें गठनमें ही स्वतंत्रता अनुस्युत है। इसलिए गठनकर्त्ता त्व सम्बन्ध गठनके साथ ही रहा अर्थात् उसका सम्बन्ध आदिकर्त्ता ईश्वरके साथ है। परन्तु उसके पश्चात् जो सब कार्य होंगे, उनका सम्बन्ध आब आदिकर्त्ता ईश्वरके साथ रही होगा। भाव-व्याप्ति जीव अवधे पहले था तो ‘भगवद्भग्नुष्ठ’ होता है श्रश्वा ‘भगवद विमुख’। यही कार्य जीवका पहला कार्य होता है। इसीमें जीव का मुख्य बहुत्व होता है। इस कार्यके समय उसको फलदानकी क्रियामें ईश्वरका अनुसंग कर्त्त्व रहता है। फिर अविद्यामें प्रवेश करनेके पश्चात् कर्त्त्व तीन प्रकारका हो जाता है। (१) जीव जो कुछ करता है, उसमें सर्वदा जीवका ही मूल-कर्त्त्व होता है। (२) उन कार्योंमें प्रकृति जो सहायता करती है, उससे प्रकृतिका ‘गौण-कर्त्त्व’ है। (३) उन कर्मोंका फल

प्रदान करनेमें ईश्वरका अनुसंग-कर्त्त्व है। जीवने स्वेच्छापूर्वक अविद्याभिनिवेशको वरण विया है। इसलिये उसका मूलकर्त्त्व कभी भी लुप्त नहीं होता। अविद्यामें प्रवेश करने पर जीव जो कुछ कर्म करता है वे सब फलोन्मुख होने पर भाग्यके नामसे परिचित होते हैं। नास्तिकोंकी आकस्मिक घटनाकी भाँति आस्तिकोंका भाग्य अविचार पूर्ण नहीं है। जीवका भाग्य उसके पूर्वकर्मोंका ही फल है। कर्म दो प्रकारके होते हैं—पारमार्थिक और आर्थिक। आर्थिक कर्ममें आर्थिक भाग्योदय होता है तथा पारमार्थिक कर्ममें पारमार्थिक भाग्योदय होता है। परमार्थको लहय करने जो कर्म होते हैं, वे कर्म-समूह पारमार्थिक हैं; जैसे—साधुसेवा, भगवज्ञाम और भगवत् सेवा। जीव किसी भी प्रपूज्जिसे हो यहि इन कर्मोंको करता है, तो वे कर्मसमूह उन जीवके अन्दर भक्ति वासना स्थ एक प्रकारके संस्कारको उत्पन्न करते हैं। वही संस्कार कमशः पुष्ट होने पर जीवका ‘सौभाग्य’ कहलाता है। उसी सौभाग्यके प्रभावसे जीवकी संसार-वासना क्रमशः दुर्बल होती जाती है। जब संसार-नाशना ग्रन्थात् दुर्बल हो पड़ती है, तब वही सौभाग्य-संस्कार अपिकार प्रष्ट होकर लाय-सङ्गके प्रति अद्वा उत्पन्न करता है। यह अद्वा पुनः साधुसङ्ग सुलभ करा कर उसके द्वारा सम्पूर्ण सिद्धि प्रदान करती है। उस सौभाग्यका क्रम-विकाश श्रीमद्भागवतमें श्रीनारद-चरित्रके प्रसङ्गमें इस प्रकार बतलाया गया है—

प्रहंपुरातीत-मवेऽमवं मुने,  
दास्याद्वच कस्याद्वचन वेदवादिनाम् ।  
निरूपितो वालक एवं योनिना,  
शुश्रुषणे प्रावृषि निविविक्षताम् ॥

उच्छिष्टलेपाननुभोदितो हिंजः,  
सहृद सम भुञ्जे तदपास्तकिल्विषः ।  
एवं प्रवृत्तस्य विशुद्धचेतस-  
स्तद्वर्म एवात्महृचिः प्रजायते ॥  
तत्रान्वहं कृष्णकथाः प्रगायता-  
मनुप्रहेणाभृणवं मनोहराः ।  
ताः अद्वया मेऽनुपदं विभृष्वतः,  
प्रियधर्वस्थङ्गं ममामवद्रातिः ॥  
( भा० १५।२३, २५, २६ )

[ नारद बोले—व्यासजी ! मैं पूर्व कल्पमें किसी दासीका पुत्र था । बचपनमें ही मैं कुछ वेदवादी भक्तिशोगियोंकी सेवामें नियुक्त कर दिया गया था । वे योगी वर्षा-शूतमें एक स्थान पर चातुर्मीस्य करते थे । मेरी माता उन शोगियोंकी रासी होनेके कारण मैं उन भागवतोंके उद्दानोंमें लगा हुआ जूँड़ा एवं बार खा लिया करता था । इससे मेरे सारे पाप धुल गये । इस प्रकार उनकी सेवा करते-करते मेरा हृदय शुद्ध हो गया और वे जिस प्रकारसे परमेश्वरका अजन-पूजन करते थे, उसीमें मेरी भी रुचि हो गयी । उस सत्संगमें उन भगवत् लीलाकथा-परायण महात्माओंके अनुप्रहसे मैं प्रतिदिन श्रीकृष्णको मनोहर कथाएँ सुना करता । अद्वापूर्वक एक-एक पद अवगत करते-करते प्रियकीर्ति भगवानमें मेरी रुचि होगयी ]

एवं कृष्णमते बहुनामकतस्यामलात्मनः ।  
कालः प्रादुरभूतु काले तदित्-सौदामिनी यथा ॥  
प्रमुच्यताने चयि तां शुद्धां भागवतीं ततुषु ।  
प्रारब्ध कर्म-निर्वाणो न्यपतत् पांचभौतिकः ॥  
( भा० १६।२६-२७ )

हे व्यासजी ! इस प्रकार भगवान्की कृपासे मेरा हृदय शुद्ध हो गया, आसक्ति भिट गयी और मैं श्रीकृष्णपरायण भक्त हो गया । कुछ समय बाद हठात् मेरी मृत्यु आ गयी । उस समय मेरा पांचभौतिक शरीर नष्ट हो गया तथा शुद्धा भागवती तनु ( पार्वद शरीर ) प्राप्त हो गया ।

अब सिद्धान्त यह है कि जग्न-जग्मान्तरोंकी सुकृतिके फलस्वरूप भाग्यके उदय होने पर साधुसंग के प्रति अद्वा होती है । उस अद्वाके फलस्वरूप क्रमशः भजन, अनर्थ-निवृत्ति, निष्ठा, रुचि और आसक्तिके पश्चात् कृष्ण-रतिका प्रादुर्भाव होता है । जिस जीवन में भाग्योदय होता है, वशी जीवनमें शुद्धा लन्तित होती है । इसीलिये अद्वा और साधुसंगको निखिल कल्पगाणकी जड़ बहा जाता है । इस विषयमें यह कारिका है—

एवं पञ्चरबद्दोऽयं जीवः शोचति सर्वदा ।  
कदाचित् सत्प्रसङ्गेन तस्य मोक्षो विद्येयते ॥

स्थूल-लिङ्ग इन दो शरीरोंने पीजड़ेके रूपमें होकर चिनाथ जीवको आपने आन्द्र नंद कर रखा है । इस दशामें जीव सदा-सर्वदा शोक करता है । हठात् किसी समय भाग्यवश उसको साधु-संग प्राप्त होता है । इस साधु-संगमें सत्कथा प्रसंगसे उनकी माया दूर होती है अर्थात् स्थूल-सुदृश शरीररूपी पीजड़ेसे सदा के लिये वह मुक्त हो जाता है ।

मुक्त-बद्धदशामेवाच्यतम्यस्य दशाद्यप्य ।  
मुक्तिहित्वान्यथारूपं स्वल्पेण व्यवस्थितिः ॥  
अत्यन्त-दुःखहानो सा चित्सुखाभिनं संशयः ।

[ जीवकी दो अवस्थाएँ हैं— मुक्त और बद्ध । अन्यथारूप अर्थात् विरूप अवस्थाका परित्याग कर स्वरूपमें अवस्थितिका नाम मुक्ति है । मुक्तिमें आत्यन्तिक दुःखकी निवृत्ति एवं चिदानन्दकी प्राप्ति होती है—इसमें तनिक भी संदेह नहीं । ]  
श्वेतांश्वतर ( ४७ ) में—

‘बुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमश्य महिमानमितिशोकः ।’

जब जीव अपने सेवनीय परमेश्वरका साक्षात्कार कर लेता है, तब वह शोकरहित होकर अपनी कृष्णदास्यरूपी महिमाको प्राप्त करता है । मुक्त-बद्ध दशाओंके भेदसे जीवकी दो अवस्थाएँ हैं । मुक्तजीव भी दो प्रकारके होते हैं—नित्यमुक्त और मायामुक्त । नित्यमुक्त जीव कभी भी मायाके बन्धनमें नहीं पड़े । मायामुक्त जीव मायाके बन्धनमें पड़े तो थे; परन्तु मत्प्रभगके प्रभावमें मायाके बन्धनमें शुक्ल होकर चिद्विलासमें प्रविष्ट हुए हैं । यहाँ यह विचारणीय है कि मुक्तिका स्वरूप क्या है ? किसी-किसीका कहना है—(१) जीवके दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्तिका नाम ही मुक्ति है। कुछ लोग कहते हैं—(२) भक्तसायुज्य या ईश्वरसायुज्यका नाम ही मुक्ति है । परन्तु जो सर्वेष हैं, उनके मतानुसार मुक्तिका परिभाषा यह है—

‘मुक्तिहित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः’

( भा० २१०६ )

जीव चित्स्वरूप है; वह शुद्ध कृष्णदास है । अविद्यामें प्रवेश करना उसके लिये विरूपता है । उस विरूपताका परित्याग करके स्वरूपमें अवस्थितिका नाम ही मुक्ति है । स्वरूप-व्यवस्थितिका ज्ञान अत्यन्त

अस्फुट ( संकुचित ) रहनेपर सायुज्यभाव और पूर्ण प्रस्फुटित होने पर शुद्ध-कृष्णदास्यकी प्राप्ति होती है । केवल दुःख निवृत्तिको मुक्ति नहीं कहा जा सकता । दुःखनिवृत्ति होने पर चिन्तसुखकी प्राप्ति होनेसे ही मुक्तिका लक्षण पूर्ण होता है । आनन्दोग्य उपनिषदमें मुक्तिका लक्षण इस प्रकार कहा गया है—

एवमेवेष सम्प्रसादोऽस्माच्छ्रीरात् समुत्थाय परं ज्यो-  
तिल्पसम्पदं स्वेन रूपेणाभिनिष्पत्ते । स उत्तमः पुरुषः ।  
स तत्र पर्यंति जथन् कीड़न् रममाणः । ( आ० ८।२।३ )

यह जीव मुक्ति लाभ करके इस स्थूल और सूक्ष्म शरीरसे समुत्थित होकर चिन्मयज्योतिः सम्पन्न अपने चिन्मय अप्राकृत-स्वरूपमें प्रतिष्ठित हो जाता है । वही उत्तमपुरुष है । वह इस चिन्द्रागमें भोग, क्रीड़ा और आनन्द-सभोग आदिमें निमग्न होता है । ब्रेदके मतानुसार ऐसी मुक्ति ही चरम मुक्ति है । जीव मुक्त होने पर जिन आठ अवस्थाओंको प्राप्त करता है, आनन्दोग्यमें उनका वर्णन किया गया है—

आत्माऽपहृतपापमा विजरो विमृत्युविशोको विजिघत्सो  
इविपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽवेष्ट्यः ।

( =०११ और २ आत्मल )

‘आत्मा’—अपहृत-पाप अर्थात् मायाकी अविद्या आदि पापवृत्तियोंसे सम्बन्धरहित है । विजर=जरा धर्मरहित नित्यनवीन है । विमृत्यु=पतनरहित है । विशोक=सम्पूर्णशान्त अर्थात् आशा-शोक-दुःख आदिसे रहित । विजिघत्स=भोगबासनरहित । अन्याभिलाषशून्य, केवल प्रियतमकी सेवाके अतिरिक्त और कुछ भी न चाहना । सत्यकाम=कृष्णसेवोपयुक्त समस्त निर्दोष कामनाओंवाला । सत्यसङ्कल्प=

जो इच्छा करते हैं, वही सिद्ध होती है। बद्धजीवमें ये आठ धर्म नहीं रहते। बद्ध और मुक्त जीवका वह भेद सब शास्त्रोंमें छीनबीन कर जानना चाहिये।

मुक्ति इतनी उपादेय होनेपर भी वह जीवकी चरम प्राप्तिरूप भगवन्-सेवा-सुखको केवल प्राप्त कराने वाली है, स्वयं चरम प्राप्ति स्वरूप नहीं है। अतएव अवान्तर फलकी आशा रहने पर मुख्यफलके प्रति सहज ही हटि नहीं रहती। इसलिये मुक्ति-कामनाको हृदयमें स्थान देना उचित नहीं है। पहलेसे ही जिनके हृदयमें मुक्तिकी आशा होती है, वे लोग नित्यरस-रूप भक्तिरसमें उन्नति नहीं प्राप्त कर सकेंगे। ऐसे व्यक्ति ज्ञान और कर्मका जितना भी आश्रय देंगे न करें, भक्तियोग द्वारा कृष्णकी बिना कृपा प्राप्त किये मुक्त नहीं हो सकते। श्रीमद्भागवतमें जिन दस पदार्थोंका वर्णन किया गया है, उनमें मुक्ति नौवाँ पदार्थ है और आश्रयसुख उसवाँ पदार्थ है।

दशमे दशमं लक्ष्यमात्रिताश्रय-विग्रहम् ।

श्रीकृष्णालयं परं धाम जगद्वाम नमामि तत् ॥

( भवार्थदीपिका १०१ )

[ दशमे एकांषमें आश्रितोंके आश्रयविप्रहृष्टरूप श्रीकृष्ण लक्षित दुष्ट हैं। उन श्रीकृष्णालय पदमध्याम और जगद्वामको मैं नमस्कार करता हूँ। ]

जिनके हृदयमें आश्रय सुख उदित हो गया है, उनके करकमलोंमें मुक्ति तक नौ पदार्थोंका ज्ञान सर्वदा रहता है। इस तत्त्वको स्पष्ट करनेके लिए श्रीमन्महाप्रभु कहते हैं—

चारि वर्णाधिमी यदि कृष्ण नाहि भजे ।

स्वकर्म करिते से रोरवे पड़ि भजे ॥

जानी जीवन्मुक्त-वशा पाइनु करि भाने ।

वस्तुतः बुद्धि शुद्ध नहे कृष्ण-भक्ति बिने ॥

( च० च० म० २१२६, २६ )

कर्म, ज्ञान, तपस्या आदि साधनोंके द्वारा कोई मुक्त नहीं प्राप्त कर सकता है। इसीलिये ज्ञानमार्गी कृष्णभक्तिके आभासका आश्रय किया करते हैं। शुद्धभार्त्तिके अधिकारी जीव मुक्तिके लिये भगवान्से प्रार्थना नहीं करते। फिर भी मुक्ति अत्यन्त दीन-हीन बनकर उनकी सेवा करनेकी प्रतीक्षामें सर्वदा खड़ी रहती है—

भक्तिस्त्वयि रिधरतरा भगवन् यदि स्था-

ईवेन नः कलति दिव्यकिशोर-मूर्तिः ।

मुक्तिः स्वयं मुकुलिताभ्यः सेवतेऽस्मान्

भगव्य-कामगतयः रागम-प्रतीक्षाः ॥

( कणांशृत १०७ इतोऽ )

[ हे भगवन् ! यदि आपके श्रीचरणकमलोंमें हमारी आच्छला भक्ति रहे, तब तो आपकी दिव्या-तिदिव्य परम सनोदर किशोर मूर्ति स्वतः हमारे हृदयमें रकुरित होगी, उस समय धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष स्पष्ट नरुरंगकी पार्थनाकी तनिक भी आवश्यकता नहीं रह जाती। क्योंकि उस समय और की तो बात ही क्या, स्वयं मुक्ति ही हाथ जोड़ कर दासीकी भाँति हमारी सेवा करती रहेगी। और धर्म-अर्थ तथा काम-ये तीनों जब जैसी आवश्यकता होगी, उसीके अनुसार आपके चरणयुगलकी सेवाके लिये हमारे आदेशोंकी प्रतीक्षा करते रहेंगे। ]

भक्तकी मुक्ति दो प्रकारकी होती है—स्वरूप-मुक्ति और वस्तु-मुक्ति। जिन्होंने भजनबलसे इस

जड़ जगतमें ही स्वरूपका साक्षात्कार कर लिया है, उनके देहान्तकाल तककी अपेक्षा न करके मुक्ति उनकी सेवा करनी आरम्भ कर देती है। उनका शरीर यद्यपि मायाके अधिकारमें होता है, फिर भी उनकी आत्मा साक्षात्-चिद्राममें परमानन्द-समुद्रमें निमग्न रहती है। उनकी यह दशा स्वरूप-मुक्तिकी है। उनका देह-स्थान होनेपर हो कृष्णकी कृपासे उनकी वस्तु-मुक्ति हो जायगी।

अद्वैतमतवादीगण जिस सायुज्य मुक्तिका अनुभाव करते हैं, वह निष्ठुके भेदसे दो प्रकारकी होती है—(१) ब्रह्मसायुज्य और (२) इश्वरसायुज्य। इन दोनों ही प्रकारको मुक्तियोंमें जीवकी स्वरूपमें

अवस्थिति नहीं होती। ब्रह्माएडपुराणमें इस विषयमें कहा गया है—

सिद्धलोकस्तु तस्मः पारे यत्र वसन्ति हि ।

सिद्धा ब्रह्मसुखे मना देव्याऽन्व हरिणा हृताः॥

[ तमः अर्थात् मायिक जगतके उम पार ब्रह्मधामरूप सिद्धलोक है। वहाँ ब्रह्मसुखमें मन मायावादीगण और भगवानके हाथोंसे मारे गये कंस आदि असुरगण निवास करते हैं। ]

“अहं ब्रह्मस्मि”, “तत्त्वमसि”, इत्यादि ब्रह्मचिन्ताद्वारा मायासे पृथक् हो करके भी ज्ञानी और योगियोंको स्वरूपमें स्थितिरूप परमसद्गतिकी प्राप्त नहीं होती।

## उपनिषद्-वाणी

एक समय विदेहराज जनकने बड़ी दक्षिणावाले एक चड़का अनुष्टान किया। उस यज्ञमें कुछ और पाञ्चाल वैरोंके बहुतसे नाड़ाण पूर्ण दूप। राजार्चि जनकको यह जाततेकी इच्छा तुर्हि यि ‘इन नाड़ाणोंने सर्वभैष्टु नज़रेता कौन है?’ इसलिये उन्होंने एक सहस्र गोएँ—जिनमेंसे प्रत्येककी सींगोंमें दस-दस तोले सुवर्ण बँधे हुए थे—मङ्गवाकर उपस्थित ब्राह्मणों से कहा—‘परमपूज्य ब्राह्मणगण ! आपमेंसे जो ब्रह्मनिष्ठ हो, वह इन गौबोंको ले जाय।’

विदेहराजकी बात सुनकर ब्राह्मण-सभामें कुछ देरके लिये सज्जाटा ढा गया; उनमेंसे किसीका भी उन गौबोंको अपने साथ ले जानेका साइस नहीं

हुआ। फिर ब्राह्मणगण मन-ही-मन कुछ विचार करने लगे और कुछ परस्पर काना-कुसी भी करने लगे। यूततेम भृत्यं याज्ञवल्क्यने अपने एक लड़नारीको उन गौबोंको उनके बाथपांग हाँक ले जानेका आङ्ग दा। वह बदानारी नमकी आङ्गा पाकर भग्नत गौबोंको हाँक कर ले चला। ऐसा देखकर वहाँ एकत्रित ब्राह्मणोंने कुद्दु होकर याज्ञवल्क्यसे पूछा—‘याज्ञवल्क्य ! हम सबमें क्या तुम ही ब्रह्मनिष्ठ हो ?

याज्ञवल्क्यने बड़ी ही नम्रतासे उत्तर दिया—‘ब्रह्मनिष्ठको तो नमस्कार करता हूँ, मैं तो केवल गौबोंकी ही अभिलाषा रखता हूँ।’

ऐसा सुनकर विदेहराज जनकके होता अश्वलने

कहा—‘ठहर जाइए; हमारे प्रश्नोंका उत्तर देनेके पश्चात् ही आप गौदोंको ले जाँय।’ ऐसा कहकर उन्होंने याज्ञवल्क्यसे पूछा—‘यह सब प्राणी, जो मृत्युसे व्याप्त हैं और मृत्युके अधीन हैं, वे ( यजमान ) मृत्युका किस उपायसे अतिक्रमण कर सकते हैं ?’

याज्ञवल्क्यने उत्तरकिया—‘यजमान होता शृ॒तिवि-  
स्प अभिन्नसे और वाक्‌से उस मृत्युका अतिक्रमण  
कर सकता है। वाक्‌ही यज्ञका होता हैं; वाक्‌ही  
अभिन्न है; वही मुक्ति है, वही अतिमुक्ति भी है।  
वाक्‌द्वारा कीर्तन होता है; अतएव कीर्तनके प्रभाव  
से ही जीव सदाके लिये संसार बन्धनसे छुटकारा  
पा जाता है।’

अश्वल—‘चह जो कुछ है, सब दिन और रातके  
अधीन है। फिर किस साधन द्वारा यजमान दिन  
और रातका अतिक्रमण कर सकता है ?’

याज्ञवल्क्य—‘अध्ययुँ शृ॒तिवि और चक्रुरूप  
आदित्यके द्वारा। अध्ययुँ यज्ञका चक्र है और वह  
चक्र ही आदित्य है। अतएव आदित्य और अध्ययुँ  
अभिन्न होनेसे वही मुक्ति है और वही अतिमुक्ति  
भी है।’

अश्वल—‘जो कुछ है, सब पूर्वपक्ष और अपर  
पक्षसे व्याप्त है। सब पूर्वपक्ष और अपरपक्ष द्वारा  
बशमें किया हुआ है। किस उपायसे यजमान पूर्वपक्ष  
और अपर पक्षकी व्याप्तिसे पार होकर मुक्त हो  
सकता है ?’

याज्ञवल्क्य—‘उद्गाताशृ॒तिवि से और वायुरूप  
प्राणसे। क्योंकि उद्गाता यज्ञका प्राण ही है। तथा  
यह जो प्राण है, वही वायु है, वही उद्गाता है।  
अतएव वही मुक्ति और अतिमुक्ति है।’

अश्वल—‘यह जो अन्तरीक्ष है, वह निराश्रय-सा  
है। अतः यजमान किस अवलम्बनसे स्वर्गलोकमें  
चढ़ता है ?’

याज्ञवल्क्य—‘ब्रह्मा-ऋत्विज् और मनरूप चन्द्रमा  
के अवलम्बनसे यजमान स्वर्गलोकमें चढ़ता है। ब्रह्मा  
यज्ञका मन ही है और मन ही चन्द्रमा है। अतएव  
वही मुक्ति है और वही अतिमुक्ति भी है।’

अश्वल—‘आज कितनी शृ॒चाओं द्वारा होता  
इस यज्ञमें शर्ण-शंसन करेगा ?’

याज्ञवल्क्य—‘तीनके द्वारा।’

अश्वल—‘तीन कौन-कौन-सी हैं ?’

याज्ञवल्क्य—‘वे तीन हैं—पुरोनुवाक्या, याज्या  
और शस्या।’

अश्वल—‘इनसे यजमान किसको जातता है ?’

याज्ञवल्क्य—‘समस्त प्राणी-समुदायको जीत  
लेता है।’

अश्वल—‘आज इस यज्ञमें अध्ययुँ कितनी  
आहृतियाँ होम करेगा ?’

याज्ञवल्क्य—‘तीन।’

अश्वल—‘वे तीन कौन-कौनसी हैं ?’

याज्ञवल्क्य—(१) जो होम की जाने पर प्रज्वलित  
होती हैं, (२) जो होम की जानेपर अत्यन्त शब्द  
करती हैं, और (३) जो होम की जाने पर पूर्खीमें  
लीन हो जाती हैं।’

अश्वल—‘इनके हुए यजमान विषको जीतता है ?’

याज्ञवल्क्य—‘जो होमकी जाने पर प्रदहित  
होती हैं, उससे यजमान देवलोकको जीतता है;

क्योंकि देवलोक देवीप्रमाण हैं। जो होम की जाने पर अत्यन्त शब्द करती है, उनसे वह पितृलोकको ही जीत लेता है; क्योंकि पितृलोक अत्यन्त शब्द करनेवाला है। जो होम की जाने पर पृथ्वी पर लीन हो जाती है, उनसे वह मनुष्य लोकको ही जीतता है; क्योंकि मनुष्यलोक अधोवर्ती है।'

अश्वल—'आज यह बहाय क्षमें दक्षिणकी ओर बैठकर कितने देवताओंद्वारा यज्ञकी रक्षा करता है ?'

याज्ञवल्क्य—'एकके द्वारा !'

अश्वल—'वह एक देवता कौन है ?'

याज्ञवल्क्य—'वह देवता 'मन' है। मन अनन्त है और विश्वदेव भी अनन्त हैं। इसलिए इस मनके द्वारा गतिरूप यात्यात सोकको जीत लेता है।'

अश्वल—'आज इस गत्तमें चट्टगावा कितनी स्तोत्र अष्टव्याकोंका स्तवन करेगा ?'

याज्ञवल्क्य—'तीन का !'

अश्वल—'वे तीन कौन-कौन सी हैं ?'

याज्ञवल्क्य—'वे तीन पुरोनुवाक्या, यात्या और नात्या हैं।'

अश्वल—'इनमेंसे जो शरीरान्तर्वर्ती है, वे कौन सी हैं ?'

याज्ञवल्क्य—'प्राण ही पुरोनुवाक्या है; अपान यात्या है और नात्यान शास्या है।'

अश्वल—'इनसे यजमान किन-किन पर विजय प्राप्त करता है ?'

याज्ञवल्क्य—'पुरोनुवाक्यासे पृथ्वीलोक पर, यात्यासे अन्तरीक्ष लोक पर तथा शास्यासे गुलोक पर विजय प्राप्त करता है।'

इसके पश्चात होता अश्वल चुप हो गया।

अश्वलके चुप होकर बैठ जाने पर जारत्कारव आर्तभागने उठकर पूछा—

'याज्ञवल्क्य ! मह कितने हैं और अतिमह कितने हैं ?'

याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया—'आठ मह हैं और आठ अतिमह हैं !'

आर्तभाग—'वे आठ मह और आठ अतिमह कौन-कौनसे हैं ?'

याज्ञवल्क्य—'प्राण ही मह है, वह अपान रूप अतिमहसे गृहीत है; क्योंकि प्राणी अपानसे ही गंधों को सुँणता है। वाक् ही मह है, वह नाम रूप अतिमहसे गृहीत है; क्योंकि प्राणी वाक्से ही नामोंका उच्चारण करता है। जिह्वा ही मह है, वह रसरूप अतिमहसे गृहीत है; क्योंकि प्राणी जिह्वासे ही रसों को विशेष रूपसे जानता है। चक्षु ही मह है, वह रूपरूप अतिमहसे गृहीत है; क्योंकि प्राणी चक्षु द्वारा ही रूपोंको देखता है। श्रोत्र ही मह है, वह शब्दरूप अतिमहसे गृहीत है; क्योंकि प्राणी श्रोत्रद्वारा ही शब्दोंको सुनता है। मन ही मह है, वह कामरूप अतिमहसे गृहीत है; क्योंकि प्राणी मनसे ही कामों की कामना करता है। हस्त ही मह है, वह कर्मरूप अतिमहसे गृहीत है; क्योंकि प्राणी हस्तसे ही कर्म करता है। त्वचा ही मह है, वह स्पर्शरूप अतिमहसे गृहीत है; क्योंकि प्राणी त्वचासे ही स्पर्शोंको जान सकता है। इस प्रकार ये आठ मह और आठ अतिमह हैं।'

आर्तभाग—'यह जो कुछ है, सब मृत्युका खात्य

है। परन्तु मृत्यु जिसका खाद्य है, वह देवता कौन है?

याज्ञवल्क्य—‘अग्नि ही मृत्यु है, वह जलका खाद्य है। इस प्रकारके ज्ञानसे पुनः किर मृत्यु नहीं होती।’

आर्तभाग—‘जिस समय मनुष्य मरता है, उस समय उसके प्राणोंका उत्कमण होता है या नहीं?’

याज्ञवल्क्य—‘नहीं, नहीं, वे यहाँ ही लीन हो जाते हैं। वह फूल जाता है अर्थात् वायुको भीतर खीचता है और वायुसे पूर्ण हुआ ही सूत होकर पड़ रहता है।’

आर्तभाग—‘जिस समय मृत्यु होती है, उस समय शून्यक्षिणी क्या नहीं छोड़ता है?’

याज्ञवल्क्य—‘गात नहीं छोड़ता। गात अनन्त है, विश्वदेव भी अनन्त हैं। इस अनन्त लोकको ही जीत लेता है।’

आर्तभाग—‘जब सूत पुरुषकी वार्षी अग्निमें लीन हो जाती है, प्राण वायुमें, चहुं आदित्यमें, मन चन्द्रमामें, धोन दिशाशामी, शरीर गृह्योमें, हृदयाकाश में भूताकाशमें, रौम शौषधियोमें और केश वनस्पतियोमें लीन हो जाते हैं तथा रक्त और वीर्य जलमें मिल जाते हैं, उस समय यह पुरुष कहाँ रहता है?’

याज्ञवल्क्य—‘कर्ममें; क्योंकि पुरुष पुण्यकर्मसे पुण्यवान् और पापकर्मसे पापी होता है।’

ऐसा सुनकर जारकारव आर्तभाग चुप हो गया।

फिर लाहायनि भुज्युने खड़े होकर याज्ञवल्क्यसे पूछा—‘याज्ञवल्क्य! हम ब्रताचरण करते हुए मद्रदेशमें विचर रहे थे कि कपिगोत्रोत्पन्न पतञ्जलके घर पहुँचे। उसकी पुत्री पर गन्धर्वका आवेश था। हमने उससे पूछा—‘तू कौन है?’ वह बोला—‘मैं अङ्गिरस सुधन्वा हूँ।’ जब उससे लोकोंके अन्तके विषयमें पूछा तो हमने उससे इस प्रकार कहा—‘पारिच्छित कहाँ रहे? वही हम तुमसे भी पूछते हैं कि पारिच्छित कहाँ रहे?’

याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया—‘वे वहाँ चले गये जहाँ अश्वमेध यज्ञ करनेवाले जाते हैं। यह लोक देवरथाहन्य है। सूर्यके रथकी गतिसे एक दिनमें संसारका जितना भाग नापा जाय उसे ‘देवरथाहन्य’ कहते हैं। उसे चारों ओरसे बड़ी पृथक्की पेरे हुए है। पृथक्कोंको यज्ञ कोरक्षे इनना यागूत्र ऐरे हुए है। सुरक्षी धारकी-धारकी तरह पतला अथवा मक्खीके पंखकी माँति सूक्ष्म आकाश उन अशुद्धकपालोंके मध्यमें विराजमान है। इन्द्र ( चित्य अग्नि ) पारिच्छितोंको चायु प्रदान करते हैं। तब चायु उत्तको अपने स्वरूपमें अग्नित कर लहाँ ले जाता है, जहाँ अश्वमेध यज्ञ करनेवाले जाते हैं। हम एकार यम गन्धर्वने वायुकी ही प्रशंसा की थी। अतः वायु ही व्यष्टि है और वायु ही समष्टि भी है।’ ऐसा सुनकर लाहायनि भुज्यु चुप हो गया।

( क्रमशः )

— विद्विष स्वामी श्रीमद् भक्ति भूदेव वौती महाराज